इकाई 10 संवैधानिक सुधार*

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 पृष्ठभूमि

10.3 सन् 1892 का इण्डियन काउंसिल्स ऐक्ट

10.4 मोर्ले-मिन्टो सुधार

10.4.1 संवैधानिक परिवर्तनों की आवश्यकता

10.4.2 वैधानिक संस्थाओं के संगठन में परिवर्तन

10.4.3 कार्यों में परिवर्तन

10.5 मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार

10.5.1 मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार की ओर ले जाने वाली परिस्थितियाँ

10.5.2 केंद्रीय सरकार में परिवर्तन

10.5.3 प्रांतीय सरकारों में परिवर्तन

10.5.4 मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार पर विचार

10.6 1920-1927 के बीच प्रस्तुत सुधार प्रस्ताव

10.7 साइमन कमीशन

10.8 सर्वदलीय कान्फ्रेंस और नेहरू रिपोर्ट

10.9 गोलमेज कान्फ्रेंस

10.10 साम्प्रदायिक पंचाट और पूना समझौता

10.11 गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट 1935

10.12 सारांश

10.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको भारत में सन् 1892 और 1935 के मध्य वैधानिक संस्थाओं के विकास के मुख्य चरणों से अवगत कराना है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- वैधानिक संस्थाओं के आकार और कार्य में, इस काल में हुई वृद्धि के विषय में जान सकेंगे;
- उन कारणों को जान सकेंगे जिन्होंने अंग्रेजों को इन सुधारों को लागू करने के लिए प्रेरित किया;
- स्वतंत्रता संग्राम और इन संस्थाओं के विकास के मध्य सम्बन्ध को समझ सकेंगे;
- जान सकेंगे कि किस प्रकार से स्वतंत्र भारत के संविधान के मूलभूत चरित्र (लोकतांत्रिक गणतंत्र तथा संसदीय प्रणाली पर आधारित) का धीरे-धीरे विकास हुआ।

* यह इकाई ई.एच.आई.-01 की इकाई 17 और इकाई 29 पर आधारित है।

- व्याख्या कर सकेंगे कि किस प्रकार से स्वतंत्रता संग्राम तथा संवैधानिक सुधारों का विकास साथ-साथ हुआ और कैसे दोनों एक दूसरे के पूरक थे; और
- साम्प्रदायिक तथा अल्पसंख्यक समस्या के समाधान में भारतीय जनता और उनके नेताओं के प्रयासों को समझ सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

अंग्रेजों ने कुछ संवैधानिक सुधार किए थे। इस इकाई में उन कारणों पर विचार किया जा रहा है जिनकी वजह से सन् 1892 का इण्डियन काउंसिल्स अधिनियम पारित हुआ। यहाँ इस अधिनियम की मुख्य धाराएँ, इसकी उपलब्धियों तथा इनकी कमियों पर विचार किया गया है। साथ ही साथ इसमें मोर्ले-मिन्टो और मोन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों की पृष्ठभूमि का अवलोकन किया गया है और इन सुधारों द्वारा सरकार के विभिन्न अंगों में किए जाने वाले परिवर्तनों पर भी प्रकाश डाला गया है। अन्त में सुधारों की उपलब्धियों तथा कमियों को दर्शाया गया है। ताकि आप इनका वस्तुनिष्ठ विश्लेषण कर सकें।

यहाँ हम 1919 के सुधार ऐक्ट के प्रभावों और साइमन कमीशन के गठन के कारणों का विश्लेषण करेंगे। साइमन कमीशन की नियुक्ति पर राष्ट्रवादियों की प्रतिक्रिया और नेहरू रिपोर्ट की संस्तुतियों पर भी यहाँ चर्चा की गयी है। हमने गोलमेज़ कान्फ्रेंस के जरिए अंग्रेज सरकार द्वारा राष्ट्रवादियों से समझौता करने की कोशिशों को भी ध्यान में रखा है। हमने ब्रिटेन द्वारा समर्थित साम्प्रदायिक और अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व की उस चुनौती की भी चर्चा की है, जिससे निपटने के लिए राष्ट्रवादियों ने पूना समझौता स्वीकार किया। अन्त में भारत सरकार ऐक्ट, 1935 के मुख्य मुद्दों और उसकी सीमाओं पर प्रकाश डाला गया है।

10.2 पृष्ठभूमि

सन् 1833 के चार्टर अधिनियम में गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद में चौथे सदस्य को विधि सचिव के रूप में शामिल किया गया। वह केवल वैधानिक मामलों में गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में वोट दे सकने का तथा बैठ सकने का अधिकारी था। इस प्रकार पहली बार केंद्रीय सरकार के वैधानिक तथा प्रशासनिक कार्यों में अन्तर किया गया। इस अधिनियम के द्वारा एक और परिवर्तन यह था कि प्रेसीडेन्सी (कलकत्ता, बंबई तथा मद्रास प्रेसीडेंसी) सरकारों को स्वतंत्र वैधानिक शक्तियों से वंचित कर दिया गया।

बीस वर्ष बाद सन् 1853 में एक और चार्टर अधिनियम पारित किया गया जिसके अंतर्गत गवर्नर जनरल की काउंसिल में विधि सचिव को पूर्ण सदस्य के अधिकार प्रदान कर दिए गए। इसके साथ ही, गवर्नर जनरल की काउंसिल की कार्यकारी तथा वैधानिक शक्तियों के बीच का अन्तर बढ़ा दिया गया, क्योंकि वैधानिक कार्यों के लिए इस काउंसिल में छह अतिरिक्त सदस्यों की नियुक्ति की गई। ये सभी वेतनभोगी सरकारी अधिकारी थे जिनमें से चार, तीन प्रेसीडेंसियों तथा नॉर्थ वेस्टर्न प्रॉविन्सेज (मौटे तौर पर आज के उत्तर भारत का पश्चिमी अर्धांश) का प्रतिनिधित्व करते थे और दो जज थे। अधिनियम में ऐसे सदस्यों को लेजिसलेटिव काउंसलर (विधान पार्षद्) कहा गया। गैर-सरकारी, यूरोपीय या भारतीय सदस्यों को शामिल किए जाने का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया गया। सन् 1854 में विधान परिषद् ने कार्य संचालन के लिए एक विस्तृत प्रणाली प्रस्तुत की। कानून बनाने के साथ-साथ तमाम शिकायतों की जाँच-पड़ताल करने का काम भी इसे सौंप दिया गया। इसके अलावा, प्रांतीय सरकारों ने विधि निर्माण प्रक्रिया के केन्द्रीयकरण का विरोध किया। हालांकि सन् 1857 के विद्रोह ने, अंग्रेजी सरकार को इस व्यवस्था में और भी परिवर्तन करने के लिए एक तात्कालिक कारण

प्रदान कर दिया। यह अनुभव किया गया कि विद्रोह का एक मुख्य कारण शासक वर्ग और भारतीयों के मध्य सम्पर्क और तालमेल की कमी थी। सन् 1861 में इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट के रूप में एक ऐक्ट पारित किया गया जिसमें इस विचारधारा का प्रतिबिंब था। विधि निर्माण के उद्देश्य से गवर्नर जनरल की काउंसिल में अतिरिक्त सदस्यों की वृद्धि की गई जिनकी संख्या कम से कम छह और अधिक से अधिक बारह होनी थी और जिन्हें गवर्नर जनरल द्वारा दो वर्ष के कार्यकाल के लिए मनोनीत किया जाना था। एक महत्वपूर्ण नया प्रयोग यह किया गया कि अतिरिक्त सदस्यों में से कम से कम आधे गैर-सरकारी होने थे (अर्थात् ऐसे लोग जो कि ब्रिटिश शासन की नागरिक सेवा या सैनिक सेवा में कार्यरत नहीं थे)। इस व्यवस्था के अन्तर्गत आमतौर पर तीन भारतीयों को मनोनीत किया जाता था। साथ ही साथ वैधानिक क्षेत्र में काउंसिल का काम केवल विधि निर्माण तक सीमित था। इस ऐक्ट ने बंबई और मद्रास की सरकारों की विधि निर्माण की शक्तियों को पुनर्स्थापित किया तथा अन्य प्रान्तों में भी विधान परिषदों की स्थापना की व्यवस्था की। बंगाल में सन् 1862, पंजाब में सन् 1886 तथा नॉर्थ वेस्टर्न प्राविंसेज में सन् 1887 में विधान परिषदों की स्थापना की गई।

पहले बीस सालों में गैर सरकारी सदस्यों के मनोनयन की शक्ति को सरकारी अनुग्रह के एक साधन के रूप में प्रयुक्त किया गया। मनोनीत किए जाने वाले गैर-सरकारी सदस्य राजाओं, उनके दीवानों और बड़े जमींदारों में से ही होते थे और उनमें भी सिर्फ वे लोग मनोनीत किए गए जिन्होंने सन् 1857-58 के विद्रोह में अंग्रेजों की मदद की थी। फिर भी गैर-सरकारी सदस्यों को मनोनीत किए जाने का निर्णय अत्यन्त महत्वपूर्ण था। यह भारतीय जनमत की महत्ता की मौन स्वीकृति थी और इस बात की भी कि अंग्रेज अधिकारी भारतीयों की आकांक्षाओं के सबसे अच्छे व्याख्याकार नहीं हो सकते थे। यह भी मालूम हो गया था कि एक तानाशाह औपनिवेशिक सरकार भी नितांत एकाकी होकर कार्य नहीं कर सकती थी।

10.3 सन् 1892 का इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट

सरकार के दृष्टिकोण से सन् 1861 के ऐक्ट ने संतोषजनक ढंग से कार्य किया था। परन्तु परवर्तीकाल में भारत में राष्ट्रीय चेतना का अद्भुत विकास हुआ। शीघ्र ही इस भावना का विकास हुआ कि देशवासियों के बहुत से हित, आकांक्षाएँ और तकदीर एक समान हैं। अपने पहले ही अधिवेशन में कांग्रेस ने केंद्रीय तथा प्रांतीय विधान परिषदों में चुने हुए सदस्यों के सम्मिलन और उनके कार्यक्षेत्र में वृद्धि की माँग की थी। आगामी वर्षों में इन माँगों को दोहराया जाता रहा।

दूसरी तरफ सरकार का प्राथमिक उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों का संरक्षण तथा उनका विकास करना था। ऐसी परिस्थिति में अंग्रेजों के लिए यह जरूरी था कि वे भारत में अपने समर्थन का आधार विस्तृत करें और ऐसा वे उन भारतीयों की आकांक्षाओं को पूरा करके कर सकते थे जो कि अपनी माँगों को एक संकुचित संवैधानिक ढाँचे के भीतर ही रखने को तैयार थे। संवैधानिक संरचना में परिवर्तन करके सरकार की सर्वग्राह्य तानाशाही को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किए बिना ही, शिक्षित भारतीयों के असंतोष को दूर किया जा सकता था। इसी उद्देश्य से सन् 1892 में एक नया इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट पारित किया गया।

सन् 1892 का इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट एक संशोधनात्मक ऐक्ट था। परिणामस्वरूप आधारभूत संवैधानिक धाराएँ वही रहीं जो सन् 1861 के ऐक्ट में थीं। मुख्यतः दो प्रकार के परिवर्तन किए गए :

i) वैधानिक संस्थाओं के संगठन में परिवर्तन

ii) कार्यक्षेत्र में वृद्धि

अन्तिम रूप से पारित नियमों के अधीन केन्द्रीय विधान परिषद् में नौ अवकाश प्राप्त सरकारी कर्मचारी सदस्यों (गवर्नर जनरल, एक्ज़ीक्यूटिव काउंसिल के छह सदस्य, सेनाध्यक्ष तथा उस प्रांत का प्रमुख जहाँ परिषद् की बैठक हो जैसे बंगाल या बिहार का लेफ्टिनेंट गवर्नर) के साथ-साथ छह अतिरिक्त सरकारी सदस्य और दस अतिरिक्त गैर-सरकारी सदस्य थे। इन अतिरिक्त गैर-सरकारी सदस्यों को बंगाल, बंबई, मद्रास तथा नॉर्थ वेस्टर्न प्राविंसेज की विधान परिषदों के सदस्यों में से नामजद किया जाता था।

जहाँ तक कार्यों का सम्बन्ध है, वैधानिक प्रस्तावों के अतिरिक्त, वार्षिक बजट पर भी सदस्यगण बहस कर सकते थे। हालांकि सरकार द्वारा प्रस्तुत बजट एक अपरिवर्तनीय दस्तावेज के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता था। सदस्यगण केवल अपनी टिप्पणी दे सकते थे जिसका प्रभाव आने वाले वर्षों के बजट पर पड़ सकता था परन्तु तत्कालीन बजट पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था। प्रान्तों में बहस, राजस्व और व्यय के उन्हीं अनुभागों तक सीमित रखी गई, जो कि प्रांतीय सरकारों के नियंत्रण में थे आंतरिक विषयों पर भी प्रश्न करने का अधिकार सदस्यों को था परन्तु पूरक प्रश्न करने की अनुमति उन्हें नहीं दी गई। इन नियंत्रणों के बावजूद यह एक महत्वपूर्ण प्रयोग था क्योंकि उस समय तक ब्रिटिश हाउस ऑफ कामंस में भी ''प्रश्नकाल'' का प्रावधान साकार रूप नहीं ले सका था।

सन् 1892 और सन् 1893 के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशनों में इस ऐक्ट की आलोचना की गई क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष चुनाव की प्रणाली लागू नहीं की गई थी। लेकिन ये अधिनियम इतने उदार अवश्य थे कि गोपालकृष्ण गोखले, लालमोहन घोष, डब्ल्यू. सी. बनर्जी, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी और फिरोजशाह मेहता जैसे अनेक राष्ट्रवादी नेतागण विधान परिषदों में प्रविष्ट हो सकें। गैर-सरकारी सदस्यगणों ने बहस करने की कला और विधायक के रूप में योग्यता का भली-भाँति प्रदर्शन किया और उन्होंने भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकने के हर मौके का लाभ उठाया। कुल मिलाकर ऐक्ट की व्यवस्थाओं ने राष्ट्रवादी नेताओं की आकांक्षाओं को संतुष्ट किया क्योंकि सन् 1894 से 1900 तक के कांग्रेस कार्यक्रम में विधान परिषदों में सुधार किए जाने की माँग को अधिक महत्व दिया गया। हालांकि संतोष की यह भावना अधिक दिन नहीं रही क्योंकि इसी अवधि में विरोध की राजनीति उभर कर आई और सन् 1904 तक एक बार फिर से समवेत स्वरों में कांग्रेस और अधिक वैधानिक सुधारों की माँग करने लगीं थी।

10.4 मोर्ले-मिन्टो सुधार

1909 के मोर्ले-मिन्टो सुधार का पारित होना 1892 के इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट (Indian Councils Act) के उपरांत की राजनीतिक हलचल तथा तीव्र गतिविधियों के दौर की पृष्ठभूमि में देखी जानी चाहिए।

10.4.1 संवैधानिक परिवर्तनों की आवश्यकता

कांग्रेस के बाहर (सन् 1892 के बाद के पंद्रह सालों में) कांग्रेस के लक्ष्यों और प्रणाली के प्रति असंतोष की भावना पनप रही थी। सन् 1885 में हाईस्कूल (मैट्रिक) में उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थियों की संख्या 1286 थी जो सन् 1906 में बढ़कर 8211 हो गई। यद्यपि आज के मापदण्ड से यह संख्या हास्यास्पद सीमा तक कम मालूम पड़ती है परंतु मात्रा की दृष्टि में इसमें सात गुनी वृद्धि हुई थी। यही प्रवृत्ति समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं के प्रकाशन और बिक्री के संबंध में देखी गयी। इससे यह संकेत मिलता है कि उन भारतीयों की संख्या में, जो कि नागरिक के रूप में अपने अधिकारों के प्रति सजग हो सकते थे और सरकार के कर्तव्यों के प्रति भी जागरूक हो सकते थे, साथ ही साथ

उन लोगों की संख्या में, जो कि विदेशी शासन की हानियों को समझने लगे थे, बहुत अधिक वृद्धि हुई थी। इन्हीं वर्षों में गरमपंथी तथा क्रांतिकारी विचारधारा का भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के अंतर्गत उदय हुआ था, जिनके लिए अन्य बातों के अलावा कर्जन की नीतियाँ काफी हद तक जिम्मेदार थीं।

कुछ नरम दलीय नेताओं ने भी, खासकर बंगाल में, गरम दल द्वारा लागू बहिष्कार और स्वदेशी कार्यक्रम का खुले आम समर्थन किया। लेकिन शीघ्र ही वे अपने पुराने ढर्रे, ''प्रार्थना और याचिका'' पर वापस आ गए। वे चाहते थे कि सरकार कुछ सुधार करके अपनी उदारता का परिचय दे। नरम दल के नेता तब अधिक आशावान हो गए, जब 1905 के अन्तिम दिनों में ब्रिटेन में सत्ता लिबरल पार्टी के हाथ में आ गई और अपने उदार विचारों के लिए विख्यात मोर्ले भारत सचिव बनाए गए। कुछ समय पूर्व ही कंजरवेटिव लॉर्ड मिन्टों ने लॉर्ड कर्जन के उत्तराधिकारी के रूप में गवर्नर जनरल का कार्यभार संभाला था। मोर्ले और मिन्टो के नाम इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट, 1909 में किए गए परिवर्तनों के साथ जोड़ दिए गए, और यह ऐक्ट ''मोर्ले-मिन्टो सुधार'' के रूप में विख्यात हुआ।

नये बदलाव में उनका मतलब वैधानिक संस्थाओं के संगठन और कार्य में परिवर्तन से था। इससे वे नरम दल को ब्रिटिश साम्राज्य का पक्षधर बना सकते थे क्योंकि उनकी खास माँग ही संवैधानिक सुधारों की थी। अतः इस वर्ग के लोगों को अपनी ओर मिलाने के प्रयास के अतिरिक्त अंग्रेजों ने भारत में अपने शासन के समर्थन के लिए नए सहारों की तलाश की।

इसी बीच अक्टूबर 1906 में मुसलमानों के नेताओं का एक शिष्टमंडल वाइसरॉस से शिमला में मिला। उन्होंने इस बात की माँग की कि किसी भी प्रकार का प्रतिनिधित्व दिए जाते समय मुसलमानों को उनकी संख्या के आधार पर नहीं बल्कि उनके राजनैतिक महत्व के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए। अंग्रेजों ने इन माँगों में कांग्रेस का आशाजनक विकल्प देख लिया था। अब वे कांग्रेसी नेताओं की बढ़ती हुई माँगों के विरुद्ध मुसलमानों के इस वर्ग को अपना संरक्षण देकर प्रति संतुलन उत्पन्न कर सकते थे। जैसा कि हम देखेंगे कि मुसलमानों को महत्व भी दिया गया और उन्हें अलग से प्रतिनिधित्व भी मिला। अतः इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि अपना शासन बनाए रखने के लिए अंग्रेजों ने साम्प्रदायिक पृथक्कत्व को बढ़ावा दिया था। यही कारण है कि अपेक्षाकृत दुर्बल संगठन होने और दो दशकों से कांग्रेस द्वारा अपनाई जा रही प्रार्थना और याचिका की पद्धति को अपनाने के बावजूद लीग को अपनी स्थापना के तुरंत बाद बड़ी सफलता मिली।

संवैधानिक सुधार किए जाने का पहला प्रस्ताव सन् 1906 की गर्मियों में किया गया और एक लंबी तथा कष्टसाध्य बहस के बाद मई, सन् 1909 में इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट पारित हुआ। सन् 1892 के इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट की ही भाँति सन् 1909 का ऐक्ट भी एक संशोधनात्मक ऐक्ट था। इंडियन काउंसिल ऐक्ट की ही भाँति इसमें भी कानून व अधिनियम बनाने के लिए गवर्नर जनरल तथा गर्वनरों की परिषदों के आकार व कार्यों में परिवर्तन किए गए।

10.4.2 वैधानिक संस्थाओं के संगठन में परिवर्तन

इस ऐक्ट ने केन्द्रीय तथा प्रांतीय विधान परिषदों का विस्तार किया। केन्द्रीय विधान परिषद् में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या 60 कर दी गई जबकि प्रांतीय विधान परिषदों में इनकी संख्या 30 से 50 के बीच रखी गई। इसमें अवकाश प्राप्त सरकारी सदस्यों की संख्या शामिल नहीं है। अतिरिक्त सदस्य दो प्रकार के होते थे – सरकारी और गैर-सरकारी। केंद्र में सरकारी सदस्यों (अवकाश प्राप्त सरकारी सदस्य मिलाकर) का

बहुमत होता था। प्रान्तीय विधान सभाओं में गैर-सरकारी बहुमत की माँग को मान लिया गया। ऐसा यह मानकर किया गया कि गैर-सरकारी सदस्य एक दूसरे के इतने विपरीत हितों और वर्गों का प्रतिनिधित्व करेंगे कि उनका एकजुट हो पाना कठिन होता। इसके अलावा यदि उनके द्वारा किसी अवांछित बिल को पारित किया भी जाता तो इस प्रकार के बिलों को आसानी से निषेधाकिार का प्रयोग करके निरस्त किया जा सकता था।

केन्द्रीय या इम्पीरियल विधान परिषद् में 37 सरकारी (9 अवकाश प्राप्त सरकारी सदस्य + 2 अतिरिक्त सरकारी सदस्य) और 32 गैर-सरकारी सदस्य थे। सन् 1909 का ऐक्ट गैर-सरकारी स्थानों के वितरण और पूर्ति के तरीके के कारण महत्वपूर्ण बन गया। इन 32 स्थानों में से 5 सरकार द्वारा नामजद व्यक्तियों द्वारा भरे जाने थे। शेष 27 स्थानों का वितरण निम्न प्रकार से किया गयाः

1) प्रांतीय विधान परिषदों के गैर-सरकारी सदस्यों में से 13
2) प्रांतों के जमींदारों में से 6
3) प्रान्तों के मुसलमानों में से 5
4) संयुक्त प्रांत के मुस्लिम भूमिपति और बंगाल के मुसलमानों का बारी-बारी से प्रतिनिधित्व 1
5) बंबई और कलकत्ता के चैम्बर्स ऑफ कामर्स से 2

इसी प्रकार के प्रावधान प्रांतीय विधान परिषदों के गठन के लिए किए गए लेकिन उनमें उनकी विशिष्ट परिस्थितियों के अनुरूप कुछ परिवर्तन भी किए गए। मुसलमान जमीदारों को जो महत्व प्रदान किया गया वह किसी ठोस एवं सत्यापित लाभदायक प्रथा के अनुसार, नहीं था बल्कि उससे भविष्य में होने वाले लाभ की आशा में ही ऐसा किया गया था।

इन स्थानों की पूर्ति चुनाव द्वारा की जानी थी। तेरह सामान्य स्थानों के लिए दोहरी अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली अपनायी गयी। किसी शहर या गाँव के करदाता नागरिक नगर पालिकाओं या स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के लिए प्रतिनिधि चुनते थे और ये प्रतिनिधि फिर प्रांतीय विधान परिषदों के लिए प्रतिनिधि चुनते थे। प्रांतीय विधान परिषदों के ये गैर-सरकारी सदस्य फिर सर्वोच्च विधान परिषद के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव करते थे। इस प्रकार प्रान्तीय विधान परिषदों के लगभग 200 गैर-सरकारी सदस्यों में से केंद्रीय विधान परिषद के तेरह सामान्य स्थान भरे गए थे। यह आकार हास्यास्पद सीमा तक छोटा था। जमींदारों और मुसलमानों के प्रतिनिधि केन्द्रीय विधान परिषद में भी सीधे चुने जाते थे। इसने मुसलमानों और गैर-मुसलमानों में किए गए भेदभाव को और भी अधिक विद्वेषपूर्ण और अन्यायपूर्ण बना दिया। जबकि मुस्लिम जमींदारों, समृद्ध व्यापारियों, स्नातकों और पेशेवर लोगों को प्रान्तीय और यहाँ तक कि केन्द्रीय विधान परिषद् में मताधिकार प्रदान कर दिया गया था लेकिन गैर-मुस्लिम चाहे वे कितने ही समृद्ध और योग्यता प्राप्त क्यों न हों, उनको चुनाव में मताधिकार तक तब नहीं मिल सकता था जब तक कि वे नगरपालिका या जिला परिषद् के सदस्य न हों।

इसके अलावा, मुस्लिम सदस्यों का चुनाव पृथक निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जाता था, अर्थात् उन्हें चुनने वाले सिर्फ मुसलमान ही थे। केवल मुस्लिम मतदाताओं के नामों के पृथक रजिस्टर तैयार किए गए। मुसलमानों को विशेष महत्व दिया गया अर्थात् उन्हें उनकी जनसंख्या की तुलना में अधिक स्थान प्रदान किए गए। उन्हें सामान्य स्थानों के लिए भी अन्य समुदायों के समान ही चुनाव में खड़े होने का अधिकार प्रदान किया गया। सन् 1909 में केन्द्रीय विधान परिषद् के चुनाव में मुसलमान चार असुरक्षित सामान्य स्थानों पर विजयी हुए थे और इस तरह कुल 30 गैर-सरकारी स्थानों (दो

स्थान जो कि चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स के लिए निश्चित थे और जिन्हें गैर-भारतीयों द्वारा भरा जाना था, उन्हें इसमें शामिल नहीं किया गया है) में से 11 स्थानों पर मुसलमानों का अधिकार था। हालांकि यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि अधिकारीगण और मुस्लिम नेतागण हमेशा पूरे मुस्लिम समुदाय के परिप्रेक्ष्य में ही बात करते थे परन्तु व्यवहार में केवल कुछ विशिष्ट गण्यमान वर्ग जैसे जमींदार, सरकारी अधिकारीगण आदि को ही वरीयता दी गई। सरकार द्वारा मुसलमानों को तरजीह देने का उद्देश्य भारतीय समाज में संतुलन बनाए रखना नहीं था बल्कि कुछ मुसलमान नेताओं को एहसान के रेशमी धागे से बाँधे रखना था।

10.4.3 कार्यों में परिवर्तन

इस ऐक्ट ने काउंसिलों की वैधानिक शक्तियों में कोई परिवर्तन नहीं किया। इसने केवल उनके कार्यक्षेत्र का विस्तार किया। विधान परिषदों के सदस्यों को निश्चित सीमाओं के अंतर्गत सार्वजनिक हित के विषयों पर प्रस्ताव पारित करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया। ये प्रस्ताव संस्तुतियों के रूप में प्रस्तुत होने थे और यह सरकार की इच्छा पर था कि वह उन्हें अपनाए, या नहीं अपनाए। वित्त सचिव द्वारा बजट पर बहस करने के लिए विस्तृत नियमावली बनाई गई। बजट को अंतिम रूप में प्रस्तुत करने से पूर्व इस बात का अवसर प्रदान किया गया कि उस पर बहस हो और संस्तुतियाँ प्रस्तुत की जाएँ। प्रश्न करने के अधिकार को विस्तृत किया गया और जिस सदस्य ने मूल प्रश्न पूछा हो उसे पूरक प्रश्न करने का अधिकार भी दे दिया गया।

उपरोक्त विचार-विमर्श से यह स्पष्ट है कि सरकार ने दो उद्देश्यों को लेकर तथाकथित संवैधानिक सुधार किए थेः

i) नरमदल को साम्राज्य का समर्थक बनाकर ब्रिटिश राज को सुदृढ़ करना।

ii) राजनीतिक रूप से सक्रिय हिंदू और मुसलमानों में मतभेदों को प्रोत्साहित करना। दूसरे शब्दों में यह प्रयास किया गया कि फूट डालकर शासन करने की नीति के मार्ग में यह मील का पत्थर सिद्ध हो सके।

यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि भारत सरकार इन दोनों उद्देश्यों तक पहुँचने में सफल नहीं हो सकी। हालांकि मुसलमानों को महत्व और पृथक निर्वाचक मंडल प्रदान किए जाने का निर्णय, आगे चलकर साम्राज्यवादी रणनीति की एक बेहतर चाल साबित हुई। एक बार जब धर्म को राजनीति में शामिल कर लिया गया तो धार्मिक हितों के आधार पर राजनैतिक कार्यक्रमों को स्वतः मान्यता मिल गई और लोगों की धार्मिक भावनाओं को उभार कर चुनाव जीतना और अपनी राजनैतिक महत्ता बनाए रखना एक आम बात हो गई।

बोध प्रश्न 1

1) सन् 1892 के ऐक्ट की मुख्य धाराएँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) मोर्ले-मिन्टो सुधार की ओर ले जाने वाली परिस्थितियों की विवेचना करें।

.....

.....

.....

.....

.....

3) मोर्ले-मिन्टो सुधार की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

10.5 मोंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार

1916 तक भारत और ब्रिटेन के लगभग सारे महत्वपूर्ण राजनैतिक दल यह सोचने लगे थे कि सरकार की संरचना में कुछ परिवर्तन आवश्यक है। इस समय तक भारतीयों की आकांक्षाएँ भी बढ़ चुकी थीं। विश्व युद्ध के दौरान भारत में राजनैतिक दबाव के कारण तथा भारतीय सहयोग को जीतने की इच्छा के परिणामस्वरूप, ब्रिटिश सरकार ने भारत में मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार की शुरुआत की।

10.5.1 मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार की ओर ले जाने वाली परिस्थितियाँ

मोर्ले और मिन्टो शायद ही यह कल्पना कर सकते थे कि जिन संवैधानिक सुधारों को, उन्होंने विभिन्न स्तरों पर साढ़े तीन साल की श्रमसाध्य विचार-विमर्श के उपरान्त साकार रूप दिया था, वे सात वर्ष के उपरान्त ही किसी को भी संतुष्ट करने में असफल सिद्ध होंगे। सन् 1916 तक भारत के सभी राजनैतिक दलों ने, यहाँ तक कि ब्रिटेन के भी सभी राजनैतिक दलों ने यह महसूस कर लिया कि भारत सरकार की संरचना में कुछ परिवर्तन आवश्यक है। यह मुख्यतः अगस्त 1914 में विश्व युद्ध छिड़ने से उत्पन्न परिस्थितियों का परिणाम था। युद्ध से भारत की सुरक्षा पर तत्काल कोई संकट नहीं आया था। चूँकि भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग था इसलिए स्वतः भारत को भी इसमें शामिल कर लिया गया था। वास्तव में यूरोपीय सैनिकों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ने से भारतीयों में एक नया आत्मविश्वास उपजा था। वे चाहते थे कि अपना शासन उन्हें खुद चलाने का अवसर देकर उनकी योग्यता को मान्यता प्रदान की जाए। इन आकांक्षाओं को विश्व युद्ध के दौरान विकसित आदर्शों ने नया बल प्रदान किया। अमरीका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने कहा था कि यह युद्ध विश्व में लोकतंत्र की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा था। एक आशा बंधी कि इस कथन का यह आशय अवश्य होगा कि भारत स्वशासन के मार्ग की ओर अग्रसर होगा।

बढ़ती हुई आकांक्षाओं की इस पृष्ठभूमि में संवैधानिक सुधारों की अनेक योजनाएँ सुझाई गई। स्वयं भारतीयों ने अनेक योजनाएँ पेश कीं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण योजना वह थी जो लखनऊ में सन् 1916 के कांग्रेस-मुस्लिम लीग के संयुक्त अधिवेशन में प्रस्तुत की गई थी। इसी बीच, लखनऊ में नरमदल, गरमदल, होमरूल आंदोलनकारी और मुस्लिम लीग एक जुट हुए और उन्होंने सर्वसम्मति से एक समझौता किया जिसे

लखनऊ समझौते (दिसम्बर 1916) के रूप में जाना जाता है। उन्होंने एक साथ मिलकर संवैधानिक सुधारों की एक योजना भी तैयार की। इसलिए उन्होंने प्रांतों में द्वैध शासन (Dyarchy) स्थापित किए जाने का प्रस्ताव रखा। ''डाइआर्की'' शब्द ग्रीक मूल का है और इसका शाब्दिक अर्थ है – एक ऐसी सरकार जिसमें सर्वोच्च शक्ति संयुक्त रूप से, दो व्यक्तियों, या दो राज्यों या दो संस्थाओं को प्रदान की गई हो।

भारतीयों को अधिक राजनैतिक शक्ति और उत्तरदायित्व प्रदान किए जाने की नीति मुख्य रूप से भारत में राजनैतिक दबाव के कारण अपनाई गई थी। यह भारतीयों का समर्थन प्राप्त करने की एक युक्ति थी। इन्हीं परिस्थितियों में 20 अगस्त, 1917 को लॉर्ड मोन्टेग्यू ने जो कि भारत के सचिव थे, संवैधानिक सुधारों की घोषणा की। इस घोषणा में यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो प्रगति होगी वह क्रमिक चरणों में होगी और इस दिशा में प्रभावशाली कदम तुरंत उठाए जाएँगे। इस विषय में कब और कितनी प्रगति होगी, इसका निर्णय ब्रिटिश संसद द्वारा लिया जाएगा। इस प्रकार के मामलों में संसद का निर्णय भारतीयों द्वारा कार्यकुशलता के प्रदर्शन के आधार पर संचालित होना था।

नवंबर 1917 में, लॉर्ड मोन्टेग्यू भारत आए और उन्होंने वाइसरॉय लॉर्ड चेम्सफोर्ड, केंद्रीय तथा प्रांतीय सरकारों के अधिकारियों तथा भारतीय नेताओं के साथ विचार-विमर्श किया। इन विचार-विमर्शों के आधार पर भारतीय संवैधानिक सुधारों पर एक रिपोर्ट प्रकाशित की गई जिसे मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट या सिर्फ मोन्टफोर्ड रिपोर्ट (जुलाई 1918) कहा गया। कुल मिलाकर अगस्त 1917 की घोषणा का भारत में स्वागत ही हुआ। लेकिन जो योजना इस रिपोर्ट में पेश की गई उसे नरमदल के कुछ नेताओं को छोड़कर, शेष भारतीय नेताओं ने अपनी आशाओं से बहुत कम पाया। श्रीमती एनी बेसेंट ने इस प्रावधान को कि सत्ता हस्तांतरण धीरे-धीरे किया जाए, अंग्रेजों द्वारा दिए जाने के और भारतीयों द्वारा स्वीकार किए जाने के सर्वथा अयोग्य मानकर अस्वीकृत कर दिया।

बंबई में अगस्त 1918 में इस रिपोर्ट पर विचार करने के लिए कांग्रेस का विशेष अधिवेशन बुलाया गया। इस अधिवेशन में इस योजना को अपर्याप्त, असंतोषजनक, और निराशापूर्ण बताते हुए इसकी भर्त्सना का एक प्रस्ताव पारित किया गया। दूसरी ओर नरमदल के नेता यह मान चुके थे कि यह प्रस्ताव विद्यमान परिस्थितियों की तुलना में काफी हद तक प्रगतिशील है और इसमें निहित सद्विचारों का सम्मान करना चाहिए। मोन्टफोर्ड रिपोर्ट के आधार पर ही गवर्नमेंट ऑफ इंडिया बिल तैयार किया गया और फिर उसे ब्रिटिश संसद में पेश किया गया। यह दिसम्बर, 1919 में ऐक्ट बन गया। इस ऐक्ट की प्रस्तावना अगस्त, 1917 की घोषणा पर आधारित थी।

10.5.2 केंद्रीय सरकार में परिवर्तन

मुख्य प्रशासनिक सत्ता गवर्नर जनरल के ही पास रही जो भारत सचिव के माध्यम से (न कि भारतीय विधान परिषद् के माध्यम से) ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी का गठन किंचित परिवर्तन के साथ किया गया जबकि भारतीय विधान सभा के संगठन में काफी परिवर्तन किए गए। लेकिन यह स्पष्ट कर दिया गया कि इसका लक्ष्य, सदन की शक्ति में वृद्धि करना नहीं है बल्कि इसे और अधिक प्रतिनिधित्वपूर्ण बनाना और सरकार पर प्रभाव डालने के और अवसर प्रदान करता है।

प्रशासन की हर शाखा में भारतीयों के बढ़ते हुए संयोजन की नीति को कार्यान्वित करने के लिए, यह व्यवस्था की गई कि गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् के कुल छह सदस्यों में से तीन भारतीय होंगे। हालांकि यह उल्लेखनीय है कि इन सदस्यों को अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण विभाग जैसे कानून, शिक्षा, श्रम, स्वास्थ्य या उद्योग दिए गए।

वे गवर्नर जनरल के प्रति जवाबदेह थे और उसके माध्यम से भारत सचिव को, न कि भारतीय विधान सभा (या परिषद्) को।

ऐक्ट ने केंद्र में द्विसदनीय विधान सभा की व्यवस्था की। ये दो सदन थे काउंसिल ऑफ स्टेट तथा लेजिसलेटिव एसेम्बली। काउंसिल ऑफ स्टेट में कुल 60 सदस्य थे जिनमें से कम से कम 33 निर्वाचित सदस्य होने थे। मनोनीत सदस्यों में से अधिक से अधिक 20 सरकारी हो सकते थे। लेजिसलेटिव एसेम्बली के कुल 145 सदस्यों में से 104 निर्वाचित सदस्य होने थे, 30 का चुनाव मुसलमानों में से, 2 का चुनाव सिक्खों में से, 7 का चुनाव जमींदारों में से, 9 का यूरोपियों में से तथा 4 का इंडियन कॉमर्शियल कम्युनिटी अर्थात भारतीय व्यापारिक संघ में से होना था। साम्प्रदायिक निर्वाचक मंडल में सिक्खों को भी शामिल कर लिया गया था। यह उल्लेखनीय है कि प्रान्तों में इन स्थानों का वितरण उनकी जनसंख्या के आधार पर नहीं बल्कि उनके तथाकथित महत्व पर आधारित था। सदन का कार्यकाल तीन वर्ष का था परन्तु इसे गवर्नर जनरल द्वारा बढ़ाया जा सकता था।

विधान सभा की शक्तियाँ और कार्य करीब-करीब पहले की तरह ही रहे। केवल एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि प्रांतीय तालिका में उल्लिखित विषयों पर किसी विधेयक को प्रस्तुत करने के लिए गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति आवश्यक कर दी गई। गवर्नर जनरल की शक्ति का विस्तार किया गया। किसी भी विधेयक पर निषेधाधिकार का प्रयोग करने के अतिरिक्त गवर्नर जनरल को प्रमाणित करने की शक्ति (पॉवर ऑफ सर्टिफिकेशन) भी थी, अर्थात् वह किसी भी ऐसे विधेयक को कानून बना सकता था जो उसकी दृष्टि में आवश्यक था, भले ही उसे सदन ने नामंजूर कर दिया हो। वह ऐसा यह प्रमाणित करके कर सकता था कि यह ब्रिटिश भारत की या उसके किसी भाग की सुरक्षा, शांति या हितों के लिए अत्यावश्यक है। सवाल पूछने के कार्यक्षेत्र को बढ़ाया गया और सभी सदस्यों को पूरक प्रश्न करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया।

मोंटफोर्ड योजना के अंतर्गत प्रांतों में आंशिक रूप से उत्तरदायी सरकार बनाई गई। इसके कारण केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के कार्यक्षेत्रों का सीमा निर्धारण आवश्यक हो गया। इसलिए दो तालिकाएँ तैयार की गई। यह विभाजन इस आधार पर किया गया कि जो विषय पूरे भारत से सम्बद्ध हैं या एक से अधिक प्रान्त से सम्बद्ध हैं उन्हें केन्द्रीय तालिका में रखा जाना चाहिए जबकि उन विषयों को जोकि केवल प्रान्तों से सम्बद्ध हैं उन्हें प्रांतीय तालिका में रखा जाना चाहिए।

केंद्रीय विषयों में विदेश तथा राजनैतिक सम्बन्ध, सार्वजनिक ऋण, तटकर, सीमाशुल्क, राजकीय एकाधिकार पत्र, मुद्रा, संचार आदि सम्मिलित थे। प्रांतीय तालिका में स्थानीय स्वायत्त संस्थाएँ, स्वास्थ्य, सफाई, शिक्षा, सार्वजनिक कार्य, कृषि, वन, कानून, शांति व्यवस्था आदि विषय थे। शेष शक्तियाँ गवर्नर जनरल इन काउंसिल में सन्निहित थीं।

यह अनुभव किया गया कि भारतीयों को आंशिक उत्तरदायित्व दिया जाना भी तभी सार्थक हो सकता है जबकि प्रांतीय विकास के लिए प्रांत भारत सरकार पर आश्रित न हों। इसलिए इस ऐक्ट में केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के लिए पृथक-पृथक राजस्व स्रोतों की व्यवस्था की गई।

10.5.3 प्रांतीय सरकारों में परिवर्तन

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट 1919 के अंतर्गत प्रांतों में सरकार के कुछ कार्य भारतीयों को हस्तांतरित किए गए जबकि शेष ब्रिटिश नियंत्रण में सुरक्षित रखे गए। इस विभाजन के अधीन विषयों को दो समान भागों – ''सुरक्षित'' तथा ''हस्तांतरित'' में विभाजित किया गया। इसी के अनुरूप प्रांतीय सरकार भी दो समान भागों को मिलाकर गठित की गई थी। गवर्नर तथा उसकी कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों को सुरक्षित विषयों

का प्रशासन करना था। हस्तांतरित विषयों को गवर्नर को मंत्रियों के साथ मिलकर प्रशासित करना था। प्रान्तों में प्रशासनिक शक्तियों का यह अभिनव वितरण द्वैध शासन के रूप में जाना गया। सरकार के दो पक्षों में एक दूसरे से संगठन के विषय में गवर्नर तथा विधान परिषद् के साथ उनके संवैधानिक सम्बन्धों के विषय में स्पष्ट रूप से अन्तर कर दिया गया।

मौटे तौर पर कहा जाए तो चार विषय, अर्थात स्थानीय स्वायत्त शासन, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा कृषि से संबन्धित कुछ विषय हस्तांतरित विषयों में शामिल किए गए। शेष सभी विषय सुरक्षित विषय थे। इनमें पुलिस, न्याय, छापेखानों पर नियंत्रण, सिंचाई, भू-राजस्व, कारखाने आदि विषय सम्मिलित थे।

गवर्नर और कार्यकारिणी के सदस्य ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते थे, और वे गवर्नर जनरल तथा भारत के प्रति संयुक्त रूप से उत्तरदायी होते थे। कार्यकारिणी पार्षदों की संख्या 4 से अधिक नहीं होती थी। मंत्रीगण जिनको हस्तांतरित विषय सौंपे गए थे, गवर्नर द्वारा नियुक्त किए गए। गवर्नर आमतौर पर मंत्रियों को विधान सभा के प्रमुख निर्वाचित सदस्यों में से ही चुनते थे। व्यवहार में, प्रत्येक प्रान्त में दो या तीन मंत्री होते थे। नियमानुसार मंत्रीगणों का कार्यकाल गवर्नर की इच्छा पर निर्भर था लेकिन व्यवहार में वे अपने पद पर तब तक बने रहते थे जब तक उन्हें विधान सभा का विश्वास प्राप्त रहता था। प्रांतीय गवर्नरों तथा मंत्रियों के मध्य सम्बन्ध का आधार निर्देशन लेखपत्र था जो कि गवर्नरों को जारी किया गया था।

इस निर्देशन लेखपत्र में गवर्नर के विशिष्ट उत्तरदायित्व की व्याख्या भी की गई थी जिसमें उसे मंत्रियों द्वारा लिए गए निर्णयों को अस्वीकार करने की विस्तृत शक्ति दी गई थी। यह विचार कि मंत्रीगण अपने कार्यों के लिए संयुक्त रूप से उत्तरदायी हों, उस समय बहस का विषय तो बना परन्तु अंततः इस सिद्धान्त का पालन करना अनिवार्य नहीं बनाया गया।

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट मूलतः आठ प्रान्तों, मद्रास, बंबई, बंगाल, संयुक्त प्रांत, पंजाब, बिहार और उड़ीसा, मध्य प्रान्त और आसाम में लागू किया गया। सन् 1923 में इसकी व्यवस्थाओं का विस्तार बर्मा और कुछ समय बाद उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत तक भी कर दिया गया। इन सभी प्रान्तों में एकसदनी विधान सभा का, जिसे लेजिसलेटिव काउंसिल कहा जाता था, निर्माण किया गया। इसमें गवर्नर की कार्यकारिणी, निर्वाचित सदस्य और मनोनीत सदस्य होते थे। यह भी व्यवस्था की गई कि काउंसिल के कम से कम 70 प्रतिशत सदस्य निर्वाचित हों और सरकारी सदस्य अधिक से अधिक 20 प्रतिशत। इन विधान सभाओं का आकार काफी बढ़ा दिया गया और यह एक प्रांत से दूसरे प्रान्त में भिन्न-भिन्न था। अधिकतम सदस्य, बंगाल में कुल 140 थे तथा न्यूनतम, आसाम में कुल 53 थे।

निर्वाचित सदस्यों को सीधे चुनाव द्वारा चुना जाता था, अर्थात प्राथमिक मतदाता ही सदस्यों को चुनते थे। मताधिकार मुख्य रूप से सम्पत्ति विषयक योग्यता पर आधारित था। सन् 1920 में कुल 24 करोड़ 17 लाख जनसंख्या में से केवल 53 लाख लोगों को अर्थात 5 प्रतिशत (वयस्कों) से भी कम लोगों को मताधिकार मिला। महिलाओं को मताधिकार या चुनाव में खड़े होने का अधिकार प्रदान नहीं किया गया।

पृथक निर्वाचक मंडल के सवाल की जाँच करके मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के समीक्षकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि वे आत्मशासन या स्वशासन सिद्धान्त के विकास में गम्भीर बाधा है। उन्होंने इन निर्वाचक मंडलों को इतिहास से मिलने वाली शिक्षा के विरुद्ध बताया और यह भी कहा कि इनसे वर्ग विभाजन चिरस्थायी हो जाता है तथा विद्यमान

सम्बन्धों में जड़ता आ जाती है। फिर भी उन्होंने इस पृथक निर्वाचक मंडल के उन्मूलन की संस्तुति नहीं की और उन्होंने इसे पंजाब में सिक्खों के लिए भी लागू कर दिया। बाद में जस्टिस पार्टी की गैर-ब्राह्मणों के लिए स्थानों के आरक्षण की माँग को भी स्वीकार कर लिया गया। भारतीय ईसाइयों, एंग्लों इंडियनों और यूरोपीयों को भी पृथक निर्वाचक मंडल प्रदान कर दिया गया।

10.5.4 मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार पर विचार

द्वैध शासन की संपूर्ण धारणा एक गलत सिद्धांत पर आधारित थी। किसी राज्य या सरकार के कार्यों को दो सर्वथा पृथक (एक-दूसरे से पूर्ण स्वतंत्र) खंडों में विभाजित कर पाना बहुत कठिन है। इस तर्कहीन विभाजन से समस्या और भी जटिल हो गई। जबकि कृषि हस्तांतरित विषय था, भू-राजस्व और सिंचाई सुरक्षित विषय थे।

इस प्रकार की पद्धति तभी कारगर हो सकती थी जब दोनों ही भागों में परस्पर विश्वास होता। जबकि मंत्रीगण अपने देशवासियों के हितार्थ थे, तो कार्यकारिणी के सदस्य और सामान्यतः सिविल सेवाओं के सदस्य ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों के रक्षार्थ थे। हस्तांतरित विभागों में भी मंत्रियों का सिविल सेवाओं के अधिकारियों पर कोई नियंत्रण नहीं था। विभागों के सचिवों की गवर्नर तक सीधी पहुँच थी जिसकी वजह से मंत्रियों की स्थिति प्रतिकूल हो गई थी। इसके अतिरिक्त मंत्रियों को दो मालिकों को खुश करना पड़ता था। उसकी नियुक्ति गवर्नर के द्वारा की जाती थी जो उन्हें बर्खास्त भी कर सकता था लेकिन वे विधान सभा के प्रति भी जवाबदेह थे। इनमें सबसे प्रमुख बात यह थी कि तथाकथित राष्ट्र निर्माण के विभाग जो कि मंत्रियों को सौंपे गए थे, वे तभी कुछ कारगुजारी दिखा सकते थे जबकि उन्हें धन उपलब्ध हो। मंत्रियों ने यह शिकायत की कि हस्तांतरित विषयों की जरूरतों पर विचार-विमर्श किए बिना ही सुरक्षित विभागों को इच्छानुसार धन प्राप्त हो जाता था।

सन 1919 में लागू की गई संवैधानिक सुधार की योजना इतनी अलोकप्रिय हुई कि इसकी निंदा करना एक आम बात हो गई। फिर भी भारत में संसदीय लोकतंत्र के विकास में इसका खास महत्व है। यह उल्लेखनीय है कि सन 1919 में जो परिवर्तन किए गए वे सन 1916 में सुझाई गई योजनाओं से भी बहुत पिछड़े हुए थे। इसके अलावा सरकार ने संवैधानिक परिवर्तनों के लक्ष्यों की घोषणा कर दी थी इसलिए वादे से फिर जाना नीति विरुद्ध बात थी। दूसरे शब्दों में इस घोषणा ने और अधिक रियायतों को अवश्यभावी बना दिया था। इस ऐक्ट ने केन्द्र और प्रान्तों में निर्वाचित वैधानिक संस्थाओं को निर्माण किया। इन संस्थाओं द्वारा भारतीयों की राय निरन्तर और स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई। इन बहसों ने राज की पक्षधर आदर्शात्मक दलीलों को और कमजोर बना दिया तथा तेजी से बढ़ती साम्राज्यवाद विरोधी भावना को और तेज कर दिया। इसी समय चुनावों और संगोष्ठियों के आयोजन से भारतीय संसदीय शब्दावली और संस्थाओं से परिचित हुए और इस प्रकार इनके आयोजन ने भारत में संसदीय लोकतंत्र के सफल कार्यान्वयन में योगदान दिया।

बोध प्रश्न 2

1) मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना की आधारभूत विशेषताएँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) द्वैध शासन की कार्य प्रणाली में कौन-कौन सी कठिनाइयाँ आई।

.....

.....

.....

.....

.....

10.6 1920-1927 के बीच प्रस्तुत सुधार प्रस्ताव

भारत सरकार ऐक्ट, 1919 के सुधारों ने भारतीय राष्ट्रवादियों को बहुत निराश किया और इस तरह 1920-1921 के राष्ट्रवादी आंदोलन के विकास में मदद मिली। असहयोग आंदोलन की समाप्ति के बाद इस अवधि में एक राजनैतिक निर्वात पैदा हो गया जिसे स्वराजियों ने भरने का प्रयास किया। दूसरी ओर गांधीवादी परिवर्तन विरोधियों ने अपना पूरा जोर गाँवों के रचनात्मक कार्यों में लगाया।

1920 और साइमन कमीशन के गठन के बीच की अवधि में भारतीयों की ओर से संवैधानिक सुधार के कई प्रस्ताव रखे गए। केन्द्रीय विधानसभा में 1921 में एक गैर–सरकारी प्रस्ताव रखा गया। इस प्रस्ताव में प्रादेशिक स्तर पर पूर्णतः उत्तरदायी सरकार स्थापित करने की माँग की गयी थी। इसी तरह के दो और गैर-सरकारी प्रस्ताव 1923 में रखे गए लेकिन उनका भी कोई परिणाम नहीं निकला। विधानपरिषद में प्रवेश करने के बाद स्वराजियों ने एक गैर-सरकारी प्रस्ताव रखा। इसमें भारत सरकार ऐक्ट, 1919 में परिवर्तन करके भारत को ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर स्व-नियंत्रित (अधिराज्य) डोमीनियन स्टेटस बनाने और प्रदेशों में प्रादेशिक स्वायत्तता लागू करने की गवर्नर जनरल से माँग की गई। सरकार ने प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में स्वराजियों ने 1924 में एक संशोधन प्रस्तुत किया। उन्होंने माँग की कि भारतीय संविधान-सभा के द्वारा भारतीय संविधान बनाया जाए। इसके उत्तर में सरकार में कार्यकारिणी परिषद के गृह सचिव सर एलेक्जेण्डर मुडीमैन की अध्यक्षता में एक सुधार जाँच समिति का गठन किया। समिति ने बहुमत और अल्पमत रिपोर्ट प्रकाशित की। बहुमत रिपोर्ट में बताया गया था कि द्वैध शासन लागू नहीं हुआ है। अल्पमत रिपोर्ट के अनुसार, 1919 का ऐक्ट असफल हो गया था। इस मसले पर शासकीय दृष्टिकोण था कि बहुमत रिपोर्ट के सुझावों को लागू करके 1919 के ऐक्ट को बेहतर बनाया जा सकता है। लेकिन मोतीलाल नेहरू आंरभिक प्रस्ताव पर कायम रहे। उन्होंने माँग की कि अल्पसंख्यकों सहित सभी भारतीयों और एंग्लो-इंडियन का प्रतिनिधित्व करने वालों की एक गोलमेज़ कान्फ्रेंस बुलायी जाए।

10.7 साइमन कमीशन

नवंबर, 1927 में भारत के राज्य सचिव लार्ड बिर्केनहेड ने सर जान साइमन की अध्यक्षता में एक वैधानिक कमीशन के गठन की घोषणा की। कमीशन का उद्देश्य प्रान्तीय सरकारों के कार्यों की जाँच करना, प्रतिनिधि संस्थाओं की कार्यप्रणाली की समीक्षा करना और भविष्य में उत्तरदायी सरकार की स्थापना में जो प्रगति हुई है, उसकी रूपरेखा तैयार करना था।

कमीशन के सभी सातों सदस्य अंग्रेज थे और ब्रिटिश संसद के सदस्य भी थे। इर्विन ने घोषणा की कि भारतीयों को कमीशन की सदस्यता से इसलिए वंचित किया गया है

क्योंकि वे संसद के सम्मुख शासन करने की अपनी क्षमता का सही चित्र नहीं प्रस्तुत कर सके और उनका मूल्यांकन निष्पक्ष नहीं रह सकेगा।

कमीशन में केवल अंग्रेज सदस्यों की नियुक्ति की घोषणा से लगभग सभी भारतवासियों को सदमा पहुँचा। सभी दलों जैसे कांग्रेस, मुस्लिम लीग के एक वर्ग, हिंदू महासभा, लिबरल्स फेडरेशन इत्यादि ने इस घोषणा का प्रबल प्रतिवाद किया, और यह सिद्ध किया कि भारतीय प्रतिनिधित्व के मामले में भारतीय जनमत के लगभग सभी वर्गों में मतैक्य है। कांग्रेस ने इस कमीशन का बहिष्कार करके असहयोग की भावना को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। भगत सिंह और दूसरे क्रान्तिकारियों ने साइमन कमीशन का इस आधार पर विरोध किया कि भारत के संविधान निर्माण में केवल भारतीयों को ही बोलने का अधिकार है।

कमीशन के विरुद्ध जन-असंतोष से इस भावना को अभिव्यक्ति मिली कि भारत का भावी संविधान स्वयं जनता द्वारा ही बताया जाना चाहिए। फरवरी, 1928 में कांग्रेस ने एक सर्वदलीय कान्फ्रेंस का आयोजन किया और 19 मई को मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में संविधान बनाने के लिए एक समिति नियुक्त की गयी।

कमीशन ने दो बार (फरवरी-मार्च 1928, अक्तूबर 1928, अप्रैल 1929) में भारत का दौरा किया। हर बार उसे बहिष्कार का सामना करना पड़ा। काफी व्यापक दौर के बाद एक रिपोर्ट तैयार की, जो मई, 1930 में प्रकाशित हुई।

10.8 सर्वदलीय कान्फ्रेंस और नेहरू रिपोर्ट

1927 के मद्रास कांग्रेस अधिवेशन में साइमन कमीशन के बहिष्कार का प्रस्ताव पारित हुआ। कार्यकारिणी समिति को अधिकार दिया गया कि वह दूसरे संगठनों से परामर्श करके भारत के लिए एक संविधान तैयार करे। फरवरी, 1928 में एक सम्मेलन में कांग्रेस, मुस्लिम लीग और हिंदू महासभा, आदि के प्रतिनिधि मिले। यह सर्वदलीय कान्फ्रेंस के नाम से जाना जाता है। डॉ. एम. ए. अंसारी ने इस कान्फ्रेंस की अध्यक्षता की। यह तय हुआ कि भारत के भावी संविधान के निर्माण में उत्तरदायी स्वशासन वाले पूर्ण अधिराज्य के सिद्धांत को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

मई, 1928 में मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रवादियों ने नेहरू समिति का गठन इसलिए किया था, ताकि वे साइमन कमीशन के गठन और लार्ड बिर्केनहेड की उस चुनौती का जवाब दे सकें, जिसमें उन्होंने भारतवासियों से एक ऐसा संविधान बनाने के लिए कहा था, जिस पर भारत में मतैक्य हो। अगस्त में समिति की रिपोर्ट को अपनाया गया। कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में कहा गया कि इस रिपोर्ट ने भारत की राजनीतिक और साम्प्रदायिक समस्याओं को सुलझाने में बहुत बड़ा योगदान दिया है।

समिति की रिपोर्ट ने जिस संविधान की रूपरेखा बनायी थी, वह स्व-शासित अधिराज्यों के संविधान के प्रारुप और पूर्णतः उत्तरदायी शासन के सिद्धांत पर आधारित थी। पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना को किसी दूरगामी लक्ष्य के रूप में नहीं, बल्कि तात्कालिक लक्ष्य के तौर पर स्वीकृत किया गया था। स्पष्टतया यह 1919 के ऐक्ट में स्वीकृत क्रमिक प्रगति के सिद्धांत से भिन्न था। इस मसौदे को सामान्यता नेहरू समिति रिपोर्ट के नाम से जाना जाता है।

जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में युवा-वर्ग ने नेहरू रिपोर्ट की इसलिए आलोचना की, क्योंकि उसमें अधिराज्य की स्थिति को स्वीकार किया गया था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कांग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता को अपना लक्ष्य बनाया था, जिसका अर्थ ब्रिटिश साम्राज्य से संबंध विच्छेद करना था। इसके बावजूद नेहरू रिपोर्ट ने एक समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाकर अधिराज्य की स्थिति को अपना लक्ष्य स्वीकार

किया। इसके जरिए एक सामान्य योजना के अंतर्गत सभी दलों को एकजुट किया जा सके। हालांकि किसी एक भाग के विरोध के कारण कलकत्ता कांग्रेस प्रस्ताव (1928) में यह जोड़ा गया कि यदि अंग्रेज सरकार नेहरू रिपोर्ट को 31 दिसम्बर, 1929 तक या उससे पहले स्वीकृत नहीं करती है या ठुकरा देती है, तो कांग्रेस फिर एक जुझारू आंदोलन शुरू करेगी। परन्तु लार्ड इर्विन ने स्व-शासित पूर्ण अधिराज्य स्थापित करने की दिशा में कोई रुचि नहीं दिखायी। इसलिए कांग्रेस ने 31 अक्तूबर, 1929 को घोषणा की कि नेहरू रिपोर्ट की प्रमाणिकता को समाप्त कर दिया गया है।

मई 1930 में साइमन कमीशन रिपोर्ट प्रकाशित की गयी। इसने केंद्र में उत्तरदायी सरकार या द्वैध शासन की स्थापना के बारे में कोई सुझाव नहीं दिया। पृथक निर्वाचन क्षेत्रों को सुरक्षित रखा गया और दलित वर्गों के लिए भी सीटों के आरक्षण का प्रस्ताव रखा गया। इसने प्रांतों में द्वैध शासन को समाप्त करके उत्तरदायी एकात्मक सरकार स्थापित करने का सुझाव दिया। इसने केन्द्र के बारे में कहा कि भारत की भिन्नताओं को देखते हुए यहाँ संघीय व्यवस्था को ही लागू किया जाना चाहिए। इसमें केंद्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के प्रश्न को अनिश्चित काल के लिए स्थागित किया गया। अधिराज्य के दर्जे (डामीनियन स्टेट्स) के बारे में साइमन कमीशन का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट नहीं था। उसने सिफारिश की कि भविष्य में ब्रिटिश भारत और रियासतें जो एक संघीय संस्था के रूप में है, स्थापित होना चाहिए, लेकिन ब्रिटिश प्रभुता का प्रावधान (जिसमें वाइसरॉय सर्वोच्च सत्ता का प्रतिनिधि है) बने रहना चाहिए। इस रिपोर्ट को लगभग सभी भारतीय दलों ने अस्वीकार कर दिया। भारतीय जनता सविनय अवज्ञा आंदोलन में उत्साहपूर्वक हिस्सा लेने लगी।

बोध प्रश्न 3

1) 1927 में साइमन कमीशन की नियुक्ति की पृष्ठभूमि पर विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) नेहरू रिपोर्ट की मुख्य सिफारिशों को गिनाइए।

.....

.....

.....

.....

.....

10.9 गोलमेज़ कान्फ्रेंस

साइमन कमीशन के रिपोर्ट प्रस्तुत करने के पहले ही इंग्लैंड में लेबर पार्टी की सरकार बन गयी। लार्ड इर्विन ने अक्टूबर, 1929 की घोषणा में कहा था कि लंदन में एक गोलमेज कान्फ्रेंस के जरिए भारतीय राजनीतिक मत के विभिन्न दृष्टिकोणों को जानने के पश्चात लेबर सरकार एक नया संविधान बनाएगी।

आगे चलकर लंदन में गोलमेज कान्फ्रेंस के तीन सत्र आयोजित किए गए। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने पहले और तीसरे सत्र में भाग नहीं लिया। जिस समय पहली गोलमेज कान्फ्रेंस की तैयारियां हो रही थीं, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ रखा था।

इस तरह पहली कान्फ्रेंस कांग्रेसी प्रतिनिधियों की अनुपस्थिति में 12 नवंबर, 1930 को आरम्भ हुई। कान्फ्रेंस में कुल मिलाकर 89 व्यक्तियों को आमंत्रित किया गया था। इनमें से 16 व्यक्ति ब्रिटिश राजनीतिक पार्टियों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधि मण्डल में 58 सदस्य थे, जो कांग्रेस के अलावा भारत की तमाम पार्टियों और हितों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

यद्यपि कान्फ्रेंस में प्रख्यात नेता, महत्वपूर्ण व्यक्ति और देशी रजवाड़े शामिल थे, इसमें ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था जिसे भारतीय जनता का प्रतिनिधि माना जा सके, जबकि यह कान्फ्रेंस भारतीय जनता के भाग्य का फैसला करने के लिए आयोजित हुई थी। संवैधानिक सुधारों की दृष्टि से इस बाधा के बावजूद, कान्फ्रेंस ने दो सकारात्मक पहलुओं पर अच्छा काम किया। उसने ब्रिटिश भारतीय प्रदेशों और भारतीय रियासतों का एक अखिल भारतीय संघ बनाए जाने का सुझाव दिया। उसने केन्द्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की सिफारिश की जिसमें संक्रमणकाल में कतिपय सुरक्षा उपायों का प्रावधान भी था। राष्ट्रवादियों को इस बात से निराशा अवश्य हुई कि संक्रमण काल की अवधि निर्धारित नहीं की गयी थी।

इस तथ्य के बावजूद कि शासन के रवैये में कोई खास बदलाव नहीं आया था, गांधी जी ने 5 मार्च, 1931 को गांधी-इर्विन समझौते के नाम से विख्यात, एक समझौता करके, दूसरी गोलमेज कान्फ्रेंस में भाग लेने का फैसला किया। कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थागित कर दिया और यह तय किया कि गांधी जी दूसरी गोलमेज कान्फ्रेंस में कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि और प्रवक्ता रहेंगे। कांग्रेस ने फिर से घोषणा की कि पूर्ण स्वराज उसका अन्तिम राजनीतिक लक्ष्य है।

गांधी जी द्वारा प्रस्तुत योजना नेहरू-समिति द्वारा अपनी रिपोर्ट में दिए गए सुझावों का ही दूसरा रूप था। कान्फ्रेंस की कार्रवाई में साम्प्रदायिक मुद्दों से काफी अड़चन आयी। गांधी जी इस तथ्य से परिचित थे कि साम्प्रदायिक समस्या इतनी जटिल है कि उसका कोई तात्कालिक समाधान संभव ही नहीं है। उन्होंने सुझाव दिया कि पहले संवैधानिक समस्या का समाधान करने के बाद ही साम्प्रदायिक मामलों पर विचार किया जाए। इस सुझाव ने अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों को न केवल असंतुष्ट किया बल्कि उनके रवैये को भी कठोर कर दिया। मुस्लिम प्रतिनिधियों ने पृथक निर्वाचन क्षेत्र बनाए रखने पर जोर दिया। दूसरा सत्र कटुता और क्षोभ के माहौल में समाप्त हुआ।

10.10 साम्प्रदायिक पंचाट और पूना समझौता

राष्ट्रीय आंदोलन की ताजा लहर की आशंका से व्यग्र होकर सरकार ने गांधी जी को 4 जनवरी, 1932 अर्थात उनके भारत पहुँचने के एक हफ्ते बाद ही गिरफ्तार कर लिया और सरकारी आतंक फैला दिया। साम्प्रदायिक समस्या ने देश का ध्यान अपनी ओर खींचा। इस मसले पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक निश्चित योजना प्रस्तुत की, जिसका वैचारिक रुझान सरकार विरोधी था। कांग्रेस ने दोहराया कि प्रस्तावित संविधान के मौलिक अधिकारों में अल्पसंख्यकों की संस्कृति, भाषा और धर्म के संरक्षण की गारंटी होगी। उसने पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों को अस्वीकृत किया और सार्वजनिक मताधिकार के सिद्धांत का समर्थन किया। लेकिन इसी बीच 16 अगस्त, 1932 को मैक्डोनाल्ड ने 'साम्प्रदायिक पंचाट' नाम से प्रसिद्ध अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व का एक प्रस्ताव प्रस्तुत कर दिया।

गांधी जी ने दलित वर्गों को पृथक निर्वाचन क्षेत्र का अधिकार देने के प्रस्ताव पर बहुत तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की। वे दलित वर्गों को हिन्दू समाज का अविच्छिन्न अंग मानते थे। उन्हें यह आशा थी कि हिन्दू समाज दलितों के कल्याण के लिए काम करेगा तथा शताब्दियों तक शोषित समाज के इस तबके के साथ सामाजिक न्याय करेगा जिससे कि वह हिन्दू समाज में पूरी तरह समाहित हो सके। अम्बेडकर पृथक निर्वाचन क्षेत्र के पक्ष में थे। गांधी जी ने उनको अपने पक्ष में लाने के लिए यरवदा जेल में आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया। अम्बेडकर ने उनके प्राण बचाने की इच्छा से 25 सितम्बर, 1932 को एक समझौता किया। इस पूना-समझौते में 'दलित वर्गों' के लिए पृथक निवार्चक मंडलों को छोड़ दिया गया लेकिन उनकी आरक्षित सीटों की संख्या दोगुनी कर दी गई।

10.11 गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट 1935

तीसरी गोलमेज कान्फ्रेंस के बाद भारत के नये संविधान पर एक श्वेत-पत्र तैयार किया गया। अंग्रेज सरकार के द्वारा तैयार किए गए इस श्वेत-पत्र में तीन प्रमुख प्रस्ताव थे, जो संघशासन, प्रान्तीय स्वायत्तता और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय कार्यपालिका को विशेष अधिकार देने वाले उपायों से सम्बंधित थे। चूँकि यह प्रस्ताव पूर्ण स्वतंत्रता से बहुत पीछे था इसलिए भारत के सभी राजनैतिक दलों ने इस श्वेत-पत्र की आलोचना की और उसे अस्वीकार कर दिया। इसे मार्च 1933 में प्रकाशित किया गया और दोनों सदनों की संयुक्त संसदीय समिति के विचारार्थ प्रस्तुत किया गया। संयुक्त समिति ने 22 नवम्बर, 1934 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट के आधार पर 2 अगस्त 1935 को एक विधेयक पारित किया गया राजकीय स्वीकृति पाने के बाद इसने गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट 1935 का रूप लिया।

इसमें निम्नलिखित महत्वपूर्ण बातें थीं :

- प्रान्तीय स्वायत्तता की शुरुआत। पहली बार ऐक्ट ने प्रांतों को एक पृथक वैधानिक इकाई के तौर पर मान्यता दी। इसकी व्यवस्था इस तरह से की गयी थी कि कुछ विशिष्ट क्षेत्रों को छोड़कर सामान्यतया प्रांतों को केन्द्र सरकार के नियंत्रण से मुक्ति मिल सके।
- 1919 के ऐक्ट द्वारा प्रान्तों में द्वैध शासन की व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया।
- बर्मा को भारत से अलग कर दिया गया। ऐक्ट ने सिंध और उड़ीसा में दो नये प्रान्त बनाने की सलाह दी। 3 मार्च, 1936 को इस संबंध में आदेश जारी किए गए।
- ऐक्ट ने सिंध और उड़ीसा समेत सभी ग्यारह प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना का प्रावधान किया। इनमें में बम्बई, बंगाल, मद्रास, संयुक्त प्रान्त, बिहार और असम द्विसदन विधानमंडलों की व्यवस्था की गयी थी।
- मताधिकार सम्पति की योग्यता पर आधारित था। 1935 में मतदाताओं की संख्या 1919 के 50 लाख से बढ़कर 3 करोड़ हो गयी।
- सीटों के आबंटन के सिद्धांत में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। पृथक निर्वाचन क्षेत्र तथा कुछ को अधिक महत्व दिये जाने की व्यवस्था को बनाए रखा गया।
- प्रान्तों के गवर्नर को विशेष कार्यकारी अधिकार प्रदान किए गए। उन्हें न्याय-व्यवस्था अल्पसंख्यकों और पिछड़े वर्गों के हितों और ब्रिटिश व्यवसायिक हितों के संरक्षण के लिए अपना विवेक प्रयुक्त करने का अधिकार था।

ऐक्ट ने भारत सरकार के लिए संघीय ढाँचे की व्यवस्था की थी। इसमें प्रांतों और रियासतों के साथ संघीय केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधानमंडलों की व्यवस्था थी। केन्द्र में

द्वैध शासन की स्थापना की गयी। विदेशी मामलों और प्रतिरक्षा को गवर्नर जनरल के लिए आरक्षित कर दिया गया था। निर्वाचित मंत्रियों को हस्तान्तरित किए गए विषयों में रक्षा उपाय उनके सुपुर्द किए गए थे।

केन्द्रीय विधानमंडल में दो सदनों की व्यवस्था थी। राज्य सभा, अर्थात उच्च सदन में ब्रिटिश भारत से 156 सदस्य और भारतीय रियासतों से 104 सदस्य शामिल किए गए। 1935 के ऐक्ट के द्वारा अधिराज्य की स्थापना नहीं हुई थी। इसलिए ऐक्ट में उत्तरदायी सरकार से पूर्ण स्वाधीनता में संक्रमण के अंतरिम काल के लिए व्यवस्था की गयी थी और सुरक्षा उपायों तथा विशिष्ट दायित्वों की व्यवस्था भी इसी संक्रमण काल के लिए की गयी थी।

1935 का ऐक्ट संघशासन और संसदीय व्यवस्था के दो आधारभूत सिद्धान्तों पर आधारित था। यद्यपि इस संघ सिद्धांत में एकात्मकता पहले से ही मौजूद थी तो भी प्रान्तों की स्थिति अधीनस्थ सत्ता की न होकर सरकारी सत्ता की थी। इसमें कोई संदेह नहीं है कि सुरक्षा उपायों और विशिष्ट दायित्व के प्रावधानों से केन्द्रीय और प्रान्तीय कार्यकारी अध्यक्षों को असाधारण शक्तियाँ मिल गयी थीं। इन प्रावधानों से संघीय चरित्र गम्भीर रूप से विकृत हो गया। एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि केन्द्र में पूर्ण उत्तरदायी सरकारों की स्थापना नहीं की गयी थी। इसी तरह से ऐक्ट द्वारा प्रस्तावित प्रान्तीय स्वायत्तता पर भी गम्भीर सीमाएँ लगा दी गयी थी। भारत के लिए अधिराज्य अभी भी एक दूरस्थ स्वप्न ही था। सुरक्षा उपायों को शामिल करने के पीछे चतुर संवैधानिक चाल ही थी ताकि एक उत्तरदायी सरकार की स्थापना को टाला जा सके। यद्यपि इन प्रावधानों को केवल संक्रमण काल तक के लिए रखा गया था, लेकिन इस संक्रमण की अवधि को स्पष्ट नहीं किया गया था।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सुरक्षा उपायों के प्रावधान और संक्रमण के विचार को अस्वीकार कर दिया। उसे सन्देह था कि इसके पीछे खतरनाक इरादे छिपे हुए हैं और उनका राष्ट्रीय आन्दोलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना लाजमी है। कांग्रेस ने ऐक्ट की इस आधार पर आलोचना की और उसे ठुकरा दिया क्योंकि इसके निर्माण के दौरान भारतीय जनता से सलाह नहीं ली गयी और इसी कारण यह उनकी इच्छाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। कांग्रेस ने सरकार पर आरोप लगाया कि उसने ऐक्ट को इस तरह बनाया है, ताकि उत्तरदायी सरकार को टाला जा सके, अपने शासन को स्थायी बनाया जा सके और भारतीय जनता का शोषण किया जा सके। उत्तरदायी सरकार के प्रति भारतीयों की अभिलाषाओं को मान्यता देने के बावजूद 1935 को यह ऐक्ट उनकी इच्छाओं को पूरा नहीं करता। सरकार ने सभी वयस्कों को मताधिकार प्रदान नहीं किया। सम्पत्ति की योग्यता, पृथक निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था और सुरक्षा उपायों के प्रावधानों से जनता के लोकतांत्रिक अधिकारों का उल्लंघन हुआ। इसलिए इस ऐक्ट को गैर-लोकतांत्रिक, जनता के प्रभुत्व को नकारने वाला और संस्थागत रूप से अव्यवहारिक बताकर निन्दित किया गया। उदारवादियों ने भी इस ऐक्ट की आलोचना की थी, लेकिन वे सुधारों को उत्तरदायी सरकार बनाने की दिशा में अग्रसर मानकर लागू करवाना चाहते थे। मुस्लिम लीग ने भी ऐक्ट की आलोचना की थी लेकिन फिर भी वे उसे एक अवसर देना चाहते थे। कुल मिलाकर कांग्रेस ने ऐक्ट की निन्दा की थी लेकिन उन्हें यह भी लग रहा था कि उसे प्रांतीय स्तर पर ऐक्ट को स्वीकार करना पड़ सकता था, यद्यपि ऐसा विरोध जताते हुए ही करना था।

इस तरह कांग्रेस ने 1937 के चुनावों में भाग लिया और आगे चलकर प्रांतीय मंत्रिमंडलों का गठन किया।

बोध प्रश्न 4

1) पूना समझौते के मुख्य प्रावधान क्या थे?

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत सरकार ऐक्ट, 1935 की मुख्य विशेषताओं का विवरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

10.12 सारांश

इस इकाई में हमने अंग्रेजों द्वारा भारत में सन् 1892 से लेकर सन् 1935 तक के काल में किए गए संवैधानिक परिवर्तनों पर विचार किया है। अंग्रेजों ने यह महसूस कर लिया था कि भारत में ब्रिटिश शासन की रक्षा के लिए उन्हें उन भारतीयों की, जो अपनी माँगों को संविधान के संकुचित दायरे में ही रखने को तैयार थे, आकांक्षाओं को संतुष्ट करना जरूरी हो गया था। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए सन् 1892 का इंडियन काउसिंल ऐक्ट पारित किया गया जिससे परिषदों का विस्तार हुआ परन्तु उनमें सरकारी बहुमत बनाए रखा गया। चुनाव सिद्धांत (यद्यपि अप्रत्यक्ष) को लागू किया गया और परिषदों को बजट पर विचार-विमर्श करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया।

सन् 1895 से 1906 के दौरान अनेक कारणों से ब्रिटिश सरकार के प्रति असंतोष की भावना में वृद्धि हुई। इस पृष्ठभूमि में मोर्ले-मिन्टो सुधार प्रस्तुत किए गए जिसमें अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि हुई और पृथक निर्वाचक मंडल की प्रणाली, जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों को अलग-अलग प्रतिनिधित्व दिया गया, प्रचलित की गई। इसने आगे चलकर अलगाववादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया। प्रथम विश्व युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों ने गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1919 की पृष्ठभूमि तैयार की, यह ऐक्ट मोन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार के रूप में जाना जाता है। इस ऐक्ट में किया जाने वाला सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन द्वैध शासन था जिसके अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारों को अपेक्षाकृत अधिक शक्तियाँ प्रदान की गई थीं लेकिन गवर्नर का वित्तीय संसाधनों पर पूर्ण नियंत्रण बना रहा जबकि मंत्रियों को सार्वजनिक स्वास्थ्य और शिक्षा आदि विभाग सौंपे गए। मंत्रीगण विधान सभा के प्रति उत्तरदायी थे पर वे गवर्नर के प्रति भी जवाबदेह थे तथा गवर्नर को उनकी नियुक्ति तथा उन्हें अपदस्थ करने का अधिकार था। केंद्रीय सरकार का प्रांतीय सरकारों पर पूर्ण अधिकार था और विधान सभा के सदस्यों को चुनने का अधिकार बहुत कम लोगों को दिया गया था अर्थात मताधिकार बहुत सीमित था। समय-समय पर होने वाली सुधार नीतियाँ, साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन, जो भारतीय राजनीति का व्यापक अंग बन चुका था, से निपटने तथा उसके दमन की अभिव्यक्ति मात्र थी।

1920-1935 के बीच संवैधानिक सुधारों के मामलें में कुछ प्रगति हुई थी। अंग्रेज सरकार का सुधारों के बारे में अपना अलग मत था, जिसे भारतीय राष्ट्रवादियों ने चुनौती दी। फिर भी भारतीयों में उदारवादियों जैसे कुछ वर्ग थे, जो अंग्रेजों के द्वारा प्रस्तावित तरीके से ही सुधारों के साथ आगे बढ़ने के पक्ष में थे। राष्ट्रवादियों ने इन सुधारों को सशर्त समर्थन दिया। इसकी वजह से उन्हें अंग्रेजों के सामने स्वतंत्रता की अपनी माँग पर किसी किस्म का समझौता नहीं करना पड़ा। इसी दृष्टिकोण से हम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर संविधानवादियों के रवैये को समझ सकते हैं। राष्ट्रवादी शक्तियों को साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व और देशी रियासतों की स्थिति जैसी चुनौतियों का सामना करना पड़ा। फिर भी, सारी सीमाओं के बावजूद इन संवैधानिक सुधारों ने भारत को संसदीय लोकतंत्र की ओर अग्रसर करने में सहायता पहुँचायी।

10.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 10.3
2) देखें उपभाग 10.4.1
3) देखें उपभाग 10.4.2

बोध प्रश्न 2

1) देखें उपभाग 10.5.2 और 10.5.3
2) देखें उपभाग 10.5.4

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 10.7
2) देखें भाग 10.8

बोध प्रश्न 4

1) देखें भाग 10.10
2) देखें भाग 10.11